



साठोत्तरी कविता में सौन्दर्य का नया स्वरूप : आर्थिक वैषम्य पर आधारित कविता

मुक्ता रानी कंचकार¹ & डॉ. परमानन्द तिवारी²
¹शोधार्थी हिन्दी, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.).
²प्राचार्य, शासकीय तुलसी महाविद्यालय, अनूपपुर (म.प्र.).

सारांश –

बीसवीं सदी में सम्प्रदायवाद, धार्मिक तत्त्ववाद, विघटनकारी और जनता में तरह-तरह के संकीर्ण विभाजनकारी रुझान पैदा करने वाली शक्तियों ने हमारी राष्ट्रीय एकता के साथ-साथ हमारे राष्ट्रीय नवजागरण और स्वाधीनता संग्राम के सारे जनतांत्रिक और जीवन के उदात्त मूल्यों के अस्तित्व को संकटग्रस्त कर दिया है, उनकी चिन्ता भी आज की कविता में व्यापक रूप से मौजूद है। साम्प्रदायिक दंगों के बीच पैदा होने वाले आतंक और अमानवीयता के चित्रों की अनेक कवियों ने आज की कविता में उपस्थित किये हैं।



मुख्य शब्द – साठोत्तरी कविता, सम्प्रदायवाद, धार्मिक तत्त्ववाद एवं विघटनकारी।

प्रस्तावना –

सन् 1960 के बाद भी नयी कविता की कई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ सामने आयीं। नयी कविता के अनेक कवि अभी रचनारत थे। रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और केदारनाथ सिंह की रचनात्मक उपलब्धि का दौर भी यही रहा। ये कवि बहुत हद तक अपने अन्तर्विरोधों से मुक्त होते बदलते युगीन यथार्थ के साथ नये ढंग से जुड़े। वहीं साठ के बाद की युवा पीढ़ी ने महसूस किया कि नयी कविता की धारा या प्रवृत्तियों से जुड़कर आगे बढ़ना सम्भव नहीं, उससे सम्बद्ध होकर कोई नयी पहचान नहीं कायम की जा सकती।

डॉ. रामकली सराफ के शब्दों में – स्वातंत्रोत्तरकाल से ही जनता के सामने जो चुनौतियाँ और समस्यायें थीं, वे साठ के बाद और गहरा गईं। व्यवस्था की अमानवीयता, निर्ममता, आतंक, भ्रष्टाचार, दमन, शोषण आदि की प्रक्रिया ने और तीव्र रूप ले लिया। आजादी के बाद जिस तरह आजादी के पहले देखे गये सपने लगातार टूटते गये, उससे आम जनता के साथ-साथ मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग का भयंकर मोहभंग होना स्वाभाविक था। इन मोहभंग की सबसे तीव्र प्रतिक्रिया मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों में हुई, क्योंकि परिवर्तन के लिए जितना अधैर्य इस वर्ग में होता है उतना और किसी में नहीं। हिन्दी के रचनाकारों की साठोत्तरी पीढ़ी इसी वर्ग से आयी थी और यह स्वाभाविक था कि हमारे साहित्य की विभिन्न विधाओं में इस अधैर्य का विस्फोट हो।¹

वे आगे लिखती हैं – “एक मायने में यह सही भी है, पर अराजकतावाद ऐसा बिच्छू है, जिसका पेट फाड़ता है, उसी को डसता है। इसकी आत्मघाती दिशाहीन परिणति भी होती है और सार्थक सही भी। यह जब वस्तुगत स्थितियों से जन्मी विसंगतियों की सही समझ से परे होता है, तो दिशाहीन रूप लेता है। साथ ही यदि

वह दिशा ग्रहण कर लेता है तो, यह जन-सामान्य के गुस्से, आक्रोश को ढोता व्यवस्था-विरोधी चरित्र अख्तियार कर लेता है और फिर आगे चलकर जनवादी शक्तियों का आधार लेने लगता है। पर इस दौर की अराजकता किसी सही वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में दिशाहीनता का ही शिकार होती है।²

नयी कविता के दौर में ही अज्ञेय, भारती, साही, जगदीश गुप्त आदि के द्वारा जिस तरह ही यथार्थ-विरोधी, व्यक्तिवादी और गैर-राजनीतिक किस्म की कविताएँ रची जा रही थीं, जिसमें निराशा, कुंठा, हताशा आदि के रूप में सामाजिक, सांस्कृतिक द्वासशीलता का रूप स्पष्ट हो रहा था, उसी का चरम पतनशील रूप अकविता में दिखायी देता है। इस सन्दर्भ में डॉ. नामवर सिंह का कथन उल्लेखनीय है – “इस प्रवृत्ति की नींव उसी दिन पड़ गयी थी, जब साहित्य में शीत युद्ध का व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी नारा बुलन्द किया गया और इतिहास ने प्रमाणित कर दिया कि अंध कम्युनिष्ट विरोध किस प्रकार राजनीति-विरोध और विचारधारा-विरोध की सीढ़ियाँ उतरता हुआ कोरे अनुभववाद के सहारे अन्ततः ‘देह की राजनीति’ में समाहित हो जाता है।”

छठवें दशक में अस्वीकृत के विभिन्न स्वर कई काव्यान्दोलनों के नाम से मुखरित हुए, निषेधात्मक काव्याभिव्यक्तियों ने पिछले कई दशकों से चली आ रही काव्य-संवेदना में आमूल परिवर्तन किया। उचित नहीं, इस प्रकार का चिंतन उनकी दुराग्राही दृष्टि का ही परिचायक है। अकविता और उनके समानधर्मी आन्दोलन और कुछ नहीं हैं, बल्कि इसके केन्द्र में भी नयी कविता का वह व्यक्ति ही था, जो प्रकाश की किरण टटोलता भटक रहा था, वही दिक्भ्रमित होकर चरम अँधेरे में खो गया, जिसके पास ‘सर्वस्व निषेध’ की चेतना तो थी, पर उसका कोई विकल्प नहीं था। विकल्पहीनता का शिकार, निम्नपूँजीवादी मानसिकता से ग्रस्त मध्यमवर्गीय युवा कवि पूँजीवादी सामंती परिस्थितियों के अन्तर्विरोधों की सही समझ के अभाव में एक ओर जहाँ सत्तासीन वर्ग के प्रति गहरा आक्रोश लिए हुए हैं, वहीं पूरे समाज के प्रति निषेधात्मक रुख अपनाते हैं। इन कवियों का नाटकीय विद्रोह शोषित और शोषक शक्तियों में कोई विभाजक रेखा नहीं खींच पाता और नयी कविता के कवियों की तरह ही “अकेलेमन” के घोर अँधेरे में भटकती भीड़ के विरुद्ध गुस्सा प्रकट करने लगता है।

समकालीन कविता के छठे दशक में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय और कंदार नाथ सिंह नयी कविता की परम्परा से हटकर समकालीन कविता में रचनारत थे। आगे चलकर सन् 1968 के आस-पास धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, चन्द्रकांत देवताले, वेणु गोपाल, कुमार विकल आदि की रचनाएँ आयीं, जिनमें मध्यमवर्गीय अराजकतावाद तो था ही, लेकिन तीव्र व्यवस्था-विरोध के चलते धीरे-धीरे उनकी कविताओं ने जनवादी चरित्र ग्रहण कर लिया। इस प्रकार साठ के बाद की कविता में तथाकथित अकवितावादियों की कविता के साथ ही सामाजिक यथार्थ-चेतना से जुड़ी रचनात्मक सृजनशीलता की एक धारा भी मौजूद रही, जो संगठन के स्तर पर तो बिखर गई, पर अनेक रचनाकार युग की चुनौतियों को स्वीकारते, संघर्ष करते सृजनरत थे।

ये नये जन्म लेते काव्यान्दोलन जगत के पतनशील अव्यवस्था से प्रेरित हुए। डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने समकालीन कविता में भदेस पर अपनी धार-दार टिप्पणी करते हुए लिखा है कि “यदि हिन्दी को साठ-सत्तर छोटी पत्रिकाओं पर सरसरी नजर भी डाली जाय तो लगता है एक रचनाकार नंगा होना चाहता है, दूसरा जड़ होना चाहता है, तीसरा संभोग करना चाहता है, चौथा लड़ना चाहता है, पाँचवाँ रुठकर या तो जंगल में जाना चाहता है या श्मशान में।” इस प्रकार थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ सबका मूल स्वर एक था। सभी ने वर्तमान का विस्फोटक, निध्वंसक रूप प्रस्तुत किया।

विश्लेषण –

सन् 1965 में श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी, रवीन्द्र त्यागी और मुद्राराक्षस के सम्मिलित सहयोग से ‘अकविता’ संकलन निकाला गया, जो 1969 तक निकलता रहा, जिसका ‘अकविता’ नामक नयी काव्य-प्रवृत्ति को परिभाषित और स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा। ‘अकविता’ पर विभिन्न पत्रिकाओं युयुत्सा, चिन्तना, उत्कर्ष, रूपाम्बरा, लहर आदि में काफी प्रतिक्रियाएँ छपीं। बाद में यही नाम ज्यादा प्रचलन में आ गया। अब तो आमतौर पर सन् 60-65 तक की एब्सर्ड किस्म की कविताओं के लिए ‘अकविता’ नाम रूढ़ भी हो गया। इन अकविता-वादियों में श्याम परमार, सौमित्र मोहन, जगदीश चतुर्वेदी, मोना गुलाटी, निर्भय मल्लिक, राजकमल चौधरी, कैलाश वाजपेयी आदि के नाम चर्चित हुए।³

इस प्रकार अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि छठे दशक की समकालीन कविता का बोध जितना लीलाधर, जगूड़ी, सुदामा पाण्डे, धूमिल, राजकमल चौधरी, श्याम परमार आदि कवियों को रहा है उतना छायावाद

से नयी कविता तक की रचनाओं में कभी नहीं था। इस दशक का कवि पेट की भूख की समस्या को सबसे बड़ी समस्या स्वीकार करता है। वे जनता को इस घेरे से निकालने का प्रयत्न भी करता है। व्यवस्था और उसके अमानवीय शासनतंत्र को चकनाचूर करने के लिए इन कवियों ने लोक के यथार्थ का एहसास कराया। और इसमें बदलाव लाने के संघर्ष की प्रेरणा दी।

सातवें दशक की समकालीन कवियों का यह विकृत कुत्साभाव अस्तित्ववादी चेतना का ही प्रभाव है। अस्तित्ववाद सामाजिक परिवर्तन में व्यक्ति के अहस्तक्षेप का दर्शन है। जगदीश चतुर्वेदी ने 'एक लंगड़े आदमी का बयान' कविता में लिखा : "देश एक लंगड़ाता वृद्ध मरीज-देशप्रेम एक अय्याशी का/ दिया हुआ महामंत्र/ दुःखती है कोई कनपटी की नस और/ बाजुओं में रक्तपात की इच्छा पनपने लगती है/ एक पाखण्ड/ का सिर फट जाता है और पैदा होते हैं असंख्य रीछद्व पालतू/ कुत्ते, चिमगादड़ और बनबिलाव/ कोई नहीं है टूटते/ आकाश के बीच साहस के साथ खड़ा रहने वाला सिपह-/ सालार सब हो गये हैं जनखे या तमाशबीन या मक्कार/ मैं रहूँगा मौन या निष्पंद-नहीं करूँगा यज्ञ,/ नहीं खींचूँगा तरकस..... एक शून्य में जीता हुआ/ कर रहा हूँ महानाश की प्रतीक्षा, नियति का काला/ पत्थर बनकर चुपचाप निठल्ला और उदास।"⁴

सातवें दशक के राजकमल चौधरी, सौमित्र मोहन, चन्द्रकान्त देवताले, नरेन्द्र मोहन, सतीश जमाली, समकालीन कुत्साभाव के घेरे से निकल आते हैं।⁵ जीवन के यथार्थ के प्रति बढ़ते हुए झुकाव का एक उदाहरण सौमित्र मोहन की लम्बी कविता 'लुकमान अली' है। इसमें परिवेशगत विडम्बनात्मक स्थितियों की निमर्म व्यंग्यपूर्ण बेबाक अभिव्यक्ति हुई है। व्यंग्य और नाटकीय शैली में लिखी गयी यह कविता देश के एक सामान्य नागरिक के लिए स्वाधीनता और जनतंत्र और उसकी संस्थाओं का क्या अर्थ है, इस पर प्रकाश डालती है - "लुकमान अली सिर्फ दर्शक है, अन्याय भ्रष्टाचार/ मूल्य हीनता और नारे लगाने वाली भीड़ का-/ लुकमान अली के लिए स्वतंत्रता उसके कद से केवल तीन इंच बड़ी है/ वह बनियान की जगह तिरंगा पहनकर कलाबाजियाँ खाता है/ वह जानता है कि चुनाव/ लोगों की राय का प्रतीक नहीं/ धन और धमकी का अंगारा है।"⁶ अपनी युगीन स्थिति के यथार्थ का जो चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है, उसमें केवल निषेध, घृणा, अश्लीलता ही नहीं, वरन् वस्तुस्थिति की सच्चाई वर्णित है।

लीलाधर जगूड़ी भी हिन्दी में अकविता आन्दोलन के प्रमुख हस्ताक्षरों में रहे हैं। अपने संग्रहों 'शंखमुखी शिखरों पर' (1964), 'नाटक जारी है' (1972), 'इस यात्रा में' (1974), 'रात अब भी मौजूद है' (1976), 'बची हुई पृथ्वी' (1977), 'घबराये हुए शब्द' (1981), और 'भय भी शक्ति देता है' (1991) की लम्बी काव्य-यात्रा में उन्हें अकविता और अन्य आन्दोलनों की विभिन्न स्थितियों से गुजरना पड़ा। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं से सामाजिक सरोकारों के एहसास के बावजूद यथार्थ की उनकी समझ अकवितावादी अन्तर्विरोधों से ग्रस्त थी। उनमें व्यवस्थाजन्य विसंगति-बोध, आजादी, लोकतंत्र, भ्रष्टाचार, चुनाव आदि पर अकवितावाद के अराजक आक्रोश के साथ-साथ नंगे यौन-बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की शैली भी मिलती है।

इस प्रकार इतिहासभंजक, नैतिक मानों को तोड़ने वाले, कुत्सावादी, अश्लील प्रवृत्तियों से ग्रस्त ये कवि जीवन में बदलाव के प्रति आस्थावान थे। जीवन के हर क्षेत्र में निषेध की, विरोध की चेतना से ग्रस्त रचनाकार विद्रोही हो उठते हैं। चन्द्रकान्त देवताले की अनेक कविताएँ शुरुआती दौर की निषेधात्मकता और विवशता-बोध से मुक्ति लेती हैं- धूमिल, चन्द्रकान्त देवताले, ऋतुराज आदि अनेक कवि हैं, जिनकी कविताएँ व्यर्थताबोध, एक्सर्डिटो, सिनिसिज्म, जीभ और जाँघ के चालू मुहावरे से शुरु में मुक्ति नहीं ले पाती। जैसे धूमिल में 'आजादी इस दरिद्र परिवार की बीस साला बिटिया/ मासिक धर्म में डूबे हुए क्वारेपन की आग से/ अंधे अतीत और लंगड़े भविष्य की/ चिलम भर रही है।'⁷ फिर "हर लड़की तीसरे गर्भपात के बाद। धर्मशाला हो जाती है।" या "औरतें योनि की सफलता के बाद/ गंगा का गीत गा रही है/ मासिक धर्म रुकते ही सुहागिन औरतें सोहर की पंक्तियों का रस/ चमड़े की निर्जनता को गीला करने के लिए/ नये सिर से सोखने लगती है।" या "क्रांति/ यहाँ के असंग लोगों के लिए/ किसी अबोध बच्चे के हाथों की जूजी है।" आदि अनेक चित्र अकविता के प्रभाव में रचे गये, जहाँ वे लैंगिक बिम्बों के प्रयोगों से अपने को बचा नहीं पाते, पर धीरे-धीरे उससे अलग भी हुए।

कदाचित् अश्लीलता के सन्दर्भ में जोड़े गये शब्दों के माध्यम से धूमिल अपने भीतर के आक्रोश, वितृष्णा और विसंगति को नयी अर्थवत्ता देना चाहते थे। लेकिन सही वैज्ञानिक चिन्तन से सम्बद्ध न हो पाने के कारण वे

अराजकतावाद के शिकार हुए। वस्तुस्थिति के यथार्थ की सही पहचान न कर पाने का ही परिणाम था कि उन्होंने भोड़े, अश्लील शब्दों से भरी कविताएँ लिखीं। इसके बावजूद धूमिल प्रतिक्रियावादी कवियों की तरह शोषक शासकवर्ग की राजनीति के पक्षधर नहीं बने। इसीलिए लिखा भी – 'मुझे अपनी कविताओं के लिए/ इसके प्रजातंत्र की तलाश है।'

अपनी "खोयी आजादी का अर्थ" ढूँढ़ते हुए धूमिल लोक-चेतना को बार-बार टेरते रहे, उन्हें बताते रहे "तुम अकेले नहीं हो/ लाखों हैं जो तुम्हारे इन्तजार में खड़े हैं/ वहाँ चलो/ यह दीवार जो तुम्हारी आदत का हिस्सा बन गई है/ इसे झटककर अलग करो/ अपनी आदतों में फूलों की जगह पत्थर भरो/ मासूमियत के हर तकाजे को ठोकर मार दो/ अब वक्त आ गया है कि तुम उठो/ और अपनी ऊब को आकार दो।" धूमिल अपने समय की सच्चाई का तीव्रता से एहसास करते हुए उसके प्रति उग्र विरोध-भाव व्यक्त करते हैं। यही धूमिल जब पटकथा के अन्त में लिखते हैं: "मेरे सामने वही चिरपरिचित अन्धकार है/ संशय की अनिश्चयग्रस्त ठंडी मुद्रायें हैं/ हर तरफ शब्दभेदी सन्नाटा है/ दरिद्र की व्यथा की तरह उचाट और कूथता हुआ/ घृणा में डूबा सारा का सारा देश/ पहले की ही तरह आज भी/ मेरा कारागार है।" तो यहीं धूमिल का अन्तर्विरोध स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः इन कवियों ने अपनी मनःस्थिति, झुझलाहट, आक्रोश और विरोध को और तीव्र रूप देने के लिए भाषा में साफगोई और नाटकीयता का समावेश किया। मृत्युबोध और अकेलेपन की क्षुब्ध चेतना से पीड़ित विष्णु खरे इतिहास के भीतर की गहरी रिक्तता से गुजरते हुए दिशाहीनता के उस बिन्दु पर पहुंच जाते हैं, जहाँ उन्हें लगता है— "इतिहास में या तो सतृष्ण मृत्यु है या विस्फारित हत्याकाण्ड/ बतलाओ क्या हो जाता है/ बलवे, राज्यक्रान्ति और सत्ता परिवर्तन के बाद/ एक धोखे से दूसरे धोखे के बीच अन्तराल में।"⁸ इसलिए जीवन की उथल-पुथल से, उसके संघर्षों से विमुख हुआ कवि अपनी विवशता का इजहार इन शब्दों में करता है— "न मैं चिड़ियों का संकल्प पा सकता हूँ और न उड़ान/ मैं सिर्फ अपनी मृत्यु में उनकी कोशिश करना चाहता हूँ।"⁹ इस धारा के कवियों के लिए मनुष्य का पूरा इतिहास धोखा तो है, जहाँ जीवन का परम-सत्य 'मृत्यु' का विस्फारित क्षण ही है।

साठोत्तरी कविता में हमें सिर्फ व्यवस्था-विरोधी तेवर ही नहीं दिखाई देते, वरन् इन कवियों का सौंदर्यानुभव, सुपरिचित संसार की विविध स्तरीय जटिलताओं से सम्बद्ध होकर इसमें आता है। सिर्फ जनवादी चिंतन से सम्बद्ध होने या प्रतिबद्धता के कारण ही ये कवितायें महत्वपूर्ण नहीं हैं वरन् मनुष्य की आस्था को संवेदनात्मक ताप देने वाला गहरा मानवीय भाव कविताओं में विश्वसनीयता और आत्मीयता पैदा करता है। जीवन में नाना सुखद और दुःखद अनुभव मौजूद हैं, जिन्हें हम अपने परिवारजनों, मित्रों, बच्चों, पत्नी और सहयोगियों के साथ बाँटते, झेलते हैं।

साठोत्तरी कविता में पिता, पुत्र, माँ, बहन, पत्नी आदि अनेक मानवीय रिश्तों की जटिल बुनावट को सामाजिक, समाजशास्त्रीय विश्लेषण के आधार पर समझने की कोशिश हुई है। दरअसल कवियों की सजग दृष्टि इन सम्बन्धों की अमानवीय निर्ममता के मूल में स्थित कारणों को जानना चाहती है। लगातार कठोर और संघर्षपूर्ण होते जीवन में, जहाँ ये करुणा और अवसाद का चित्र खींचते हैं, वहीं उनके स्वप्न और संकल्पों को पीछे नहीं छोड़ देते। समकालिक कवियों ने निरन्तर अपरिचित और अजनबी होते जा रहे सम्बन्धों के बीच मानवीय अन्तर्स्पन्दनों की छानबीन की। ये सम्बन्ध परस्पर की आत्मीयता और अपनेपन पर आधृत है।

निष्कर्ष –

निष्कर्षतः साठोत्तरी कवियों का अभिमत है कि आज तक किसी को अपना अधिकार न तो हाथ पसारने पर मिला है और न कभी मिलेगा। वे यह भी जानते हैं कि आर्थिक अधिकार या समग्र अधिकार भीख में नहीं मिलता, बल्कि उसे छिनना पड़ता है। वे शोषित, पीड़ित मेहनतकस तथा सर्वहारा वर्ग को जाग्रत करना चाहते थे। भूख, जनसंख्या, लोक तंत्र, अनुभूति की कविता, गंवई संस्कृति, न्याय व्यवस्था, की सापेक्षता की इतनी सच्ची पहचान साठोत्तरी काव्य के सिवा कहीं नहीं मिलेगी। उन्होंने अपनी व्यवस्था में बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय की बात उठाते हैं। अतः मैं यह कहना समीचीन समझती हूँ कि साठोत्तरी कविगण सिद्धाहस्त समकालीन रचनाकार रहे हैं।

संदर्भ –

- ¹समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 171, डॉ. रामकली सराफ.
- ²समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 172, डॉ. रामकली सराफ.
- ³समकालीन कविता की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ 177, डॉ. रामकली सराफ.
- ⁴डूबते इतिहास का गवाह, एक लंगड़े आदमी का बयान, पृष्ठ 20, जगदीश चतुर्वेदी.
- ⁵समकालीन कविता पर एक बहस, पृष्ठ 85, जगदीश नारायण श्रीवास्तव.
- ⁶लुकमान अली, सौमित्र मोहन.
- ⁷राजकमल चौधरी के लिए, कविता से, धूमिल.
- ⁸खुद अपनी आँख से, एक चीज के लिए कविता से, विष्णु खरे.
- ⁹खुद अपनी आँख से, कोशिश कविता से, विष्णु खरे.